जंगल गाथा



गुंजन सिन्हा

नमूना • SAMPLE

जंगल गाथा

गुंजन सिन्हा

नमूना • SAMPLE

अखण्ड पब्लिशिंग हाऊस
दिल्ली (भारत)

द्वारा प्रकाशित



अखण्ड पब्लिशिंग हाऊस

Publisher, Distributor, Exporter having an Online Bookstore

एल–9ए, प्रथम तल, गली न0 42,
सादतपुर एक्सटेंसन, दिल्ली–110094 (भारत)
Phone : 9968628081, 9555149955, 9013387535
E-mail : akhandpublishinghouse@gmail.com
akhandpublishing@yahoo.com
Website : www.akhandbooks.com

जंगल गाथा

संस्करण : 2021
© लेखक
ISBN: 978-93-90870-21-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी हिस्से को प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इलेक्ट्रॉनिक या किसी अन्य माध्यम द्वारा पुनः प्राप्ति समेत किसी भी रूप में प्रतिलिपिकृत, अनुवादित, संगृहीत नहीं किया जा सकता है और न ही किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम द्वारा इसे प्रसारित किया जा सकता है।

इस पुस्तक में लेखक द्वारा व्यक्त विचार उनके व्यक्तिगत हैं जिसका प्रकाशक से कोई संबंध नहीं है।

भारत में प्रकाशित

झपसू यादव द्वारा 'अखण्ड पब्लिशिंग हाउस' के लिए प्रकाशित। वी.एम. ग्राफिक, दिल्ली द्वारा कवर डिजाइन व शब्द संयोजन तथा आरना इंटरप्राइजेज, दिल्ली से मुद्रित।

SAMPLE



समर्पण

स्व. पद्मावती सिन्हा (माँ)

एवं

स्व. रत्नेश्वर प्रसाद सिन्हा, (पिताजी)

की पुण्य स्मृतियों को समर्पित !

नमूना SAMPLE



एक वन अधिकारी के रूप में मेरे
पिता स्व. रत्नेश्वर प्रसाद सिन्हा (भा.व.से.)

भूमिका

5 जनवरी, 2019, 2:49 AM

उद्विग्न हूँ ये खबर सुन कर कि प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी आज पलामू में मंडल डैम का फिर से शिलान्यास करेंगे। 1972 में शुरू हुई योजना का फिर से शिलान्यास सैंतालिस बरस बाद !

मंडल–कुटकू से जुड़ी यादें गड्ड मड्ड हो रही हैं और उनके साथ जंगलों के असंख्य बिम्ब भी।

किससे शुरू करूं गाथा इस महाविनाश की? बिरसी मुन्डाइन से, जिसे मंडल डैम ने मेहनतकश मजदूरिन से वेश्या बना दिया, धनेसर उरांव से जिसे किसान से कैदी बना दिया, सुघड़ खरवार से जिसकी दो पीढ़ियों ने तीन बार विस्थापन झेला, कुटकू के घनघोर जंगलों से जिन्हें बंजर कर दिया, वहां के उन लाखों पेड़ों से जो काटे गए और अब फिर काटे जायेंगे, निरीह जंगली जानवरों से जो बिला वजह मारे गए, उन तितलियों से जो जंगली पगडंडियों पर अपनी गोल पार्लियामेंट बना बैठा करती थीं, उन शहतीरों से जिनके साए में मैंने रातें बिताई थीं, लेकिन फिर जिन्हें बंजर में बेजान पड़े देखा था, या आन्दोलन के नाम पर ठगे गए विस्थापितों से, या शुरू करूं खुद अपने आपसे जिसकी जिंदगी, पूरा अस्तित्व मंडल की एक सुबह ने हमेशा के लिए बदल दिया? कहाँ शुरू करूं मंडल, कुटकू, कोयल, कोइना, हरया, कारो नदियों की यह महागाथा? या फिर उस भ्रष्ट अफसरशाही से जो चुनाव सभा के लिए भीड़ जुटा रही है और बेहद डरी हुई भी है कि कहीं काले रंग की कोई चीज महामहिम

SAMPLE

को न दिख जाए। सफेदपोश सत्ता को काले रंग से बहुत डर लगता है।

पलामू के पुलिस कप्तान ने पत्र जारी किया है कि कोई भी व्यक्ति काले रंग की कोई चीज चादर, कपड़ा, छाता – काले रंग का कुछ भी सभा में न लाने पाए। लेकिन एसपी साहब उन काली यादों का क्या करोगे जो तुम्हारे जैसे अफसरों, नेताओं, सरकारों ने पलामू, झारखण्ड और पूरे देश को दी हैं? उन काले कारनामों का क्या करोगे जो पिछले पचास वर्षों में मंडल, पूरे झारखण्ड के जंगलों और उनमें रहनेवाले वनवासियों एवं जीव–जन्तुओं के साथ तुमलोगों ने की हैं?

मंडल–कुटकू झारखण्ड का एक बेहद समृद्ध जंगल था। इस इलाके में 1970 तक चालीस से ज्यादा बाघ थे। हाथी थे। अन्य पशु–पक्षी भरे हुए थे। इसीलिए इस सघन वन को अंतर्राष्ट्रीय महत्व के टाइगर प्रोजेक्ट के लिए चुना गया था।

लेकिन मंडल डैम योजना के चलते यहाँ की प्राकृतिक समृद्धि हमेशा के लिए खत्म हो गई। हजारों जंगली जानवर मारे गए, बेघर हुए, अरबों रूपए बर्बाद हुए, हजारो लोग बेघर हुए। उनका पूरा सामाजिक सांस्कृतिक ताना–बाना ही बिखर गया।

मंडल डैम मनुष्य की धनलिप्सा की एक छोटी कहानी नहीं, महाभारत जैसी एक त्रासद महागाथा है, जिसके लिए एक उपन्यास का आकार भी कम पड़ेगा।

मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस गाथा को इसकी पूरी पूर्णता में तुरत आप तक कैसे पहुंचा दूँ। इसके कुछ सिरे व्यक्तिगत रूप से मुझ से जुड़े हैं। कुछ जंगलों और जंगलों में रहनेवाले लाखों गरीब आदिवासियों, वनवासियों, विस्थापितों, पेड़ों, नदियों, पहाड़ों, वन्य जानवरों, पक्षियों और जंगलों की जमीन व आकाश से जुड़े हैं। इनमें से किसी के भी बिम्ब मेरे अन्दर एक स्पंदन उत्पन्न करते हैं। मुझे लगता है, जैसे जंगल मुझे पुकारता है। कभी अपने नैसर्गिक स्पर्श से मुझे स्वस्थ कर देने के लिए, कभी अपनी कराह सुनाने, अपने घाव, कष्ट, अपना क्षत–विक्षत अस्तित्व दिखाने के लिए वह पुकारता है मुझे। जैसे जैसे मैं अपनी शाम की ओर बढ़ रहा हूँ, जंगल मुझे पुकारते हुए कहता है – आ जाओ, अपनी माँ की गोद में, आओ मैं फिर से तुम्हें स्वस्थ कर दूं।

लेकिन अब मैं नहीं जा सकता। बहुत दूर निकल आया हूँ। इसलिए लिख रहा हूँ, विदाई का यह गीत। किसकी विदाई ? जंगल की या मेरी? या दोनों की?

कहाँ से शुरू करूं? फेसबुक पर कितना लिखूँ ? अख़बारों में छापेगा कौन? किताब में महीनों लग जायेंगे और तबतक ये विनाश–गाथा कितनी भयावह हो चुकी रहेगी!

लेकिन लिखूंगा, ज़रूर लिखूँगा, कोई पढ़े, न पढ़े, छापे, न छापे।

लिखूँगा ताकि आनेवाली सदियाँ जान सकें कि इंसानी जमातों के ख़िलाफ़ कैसा खूंखार हांका हुआ था यहाँ। लिखना ज़रूरी है।

यह किताब झारखण्ड/बिहार के जंगलों और उनसे जुड़े मुद्दों पर केन्द्रित है, लेकिन यही स्थिति पूरे देश के जंगलों की है। मंडल और सारंडा जैसे जंगलों का नाश, जानवर, अविकास, अंधविश्वास, आदिवासी, नक्सल, पर्यावरण, प्रदूषण, भ्रष्टाचार, विस्थापन, डायन–हत्या, प्राकृतिक सम्पदा का निर्मम दोहन दृ देश के कई इलाकों में आम मुद्दे हैं।

झारखण्ड एक परखनली है। इसमें पूरे देश के जंगलों, जंगली जीवों और वनवासियों के विनाश की प्रक्रिया देखी जा सकती है।

मैं ना कोई वन विशेषज्ञ हूँ, ना पर्यावरणविद। एक आम आदमी, लेमैन, हूँ और यह किताब मैं उन आम लोगों के लिए लिख रहा हूँ, जिन्हें जिंदगी की जद्दोजहद कोई भारी भरकम पुस्तक पढ़ने की मोहलत नहीं देती। उन्हें भी जंगल कई तरह से पुकारते हैं; उनकी जिन्दगी को भी सीधे तौर पर प्रभावित करते हैं।

जंगल की यह पुकार कभी पिकनिक पर जाने की इच्छा के रूप में मन में जगती है, कभी यूँही एक आवारगी जगाती है। इंसान के अन्दर पिकनिक की इच्छा या यह खास आवारगी उसकी एक भटकन है, अपनी उदास रूह से मिलन की तलाश में। आदिम इन्सान की रूह शहर और सभ्यता के रोजमर्रे में कहीं खो गई है। सदियों से उसे खोजने की सबसे सही जगह जंगल ही रहे हैं क्योंकि इंसान जंगल में ही तो पैदा हुआ था।

इस गंभीर विषय में मेरा दखल बस इतना है कि मेरे पिता एक वन अधिकारी थे, सो बचपन से मुझे जंगलों में जाने, जीने, उन्हें देखने–जानने

के मौके मिले। मेरे पास वन एवं पर्यावरण का कोई अर्जित ज्ञान, कोई अकेडमिक डिग्री नहीं है। बस कुछ अनुभव हैं। जंगल से इसी भावात्मक सम्बन्ध को अपना हक समझ आपसे बातें बांटने बैठ गया हूँ।

कई प्राचीन और समकालीन साधकों ने पर्यावरण, जंगल और जंगल में रहनेवाले इंसानों, जानवरों पर बहुत अच्छी किताबें लिखी हैं। उनसे मुकाबले का न कोई इरादा है और न औकात। लेकिन एक आम आदमी की तरह मैंने जंगल की पुकार सुनी है। खुद अपने ऊपर उसके चंगाई स्पर्श (हीलिंग टच) को महसूस किया है। किसी नायाब दवा के बारे में एक मरीज का अनुभव भी तो सुना ही जाना चाहिए!

मेरा उद्देश्य यह रेखांकित करना है कि प्रकृति हमारे निजी जीवन, उसके सुख दुःख को स्पर्श करती है। प्रकृति की सबसे आकर्षक अभिव्यक्ति, है जंगल। यह तन और मन दोनों को चंगा करता है।

नदियों, पहाड़ों, जंगलों में रहने वाले इंसानों और जीव–जंतुओं को लगातार नष्ट कर प्रकृति की अमूल्य देन को खत्म किया जा रहा है। लेकिन आम लोग ऐसे व्यवहार कर रहे हैं, मानो उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। कहीं कोई प्रभावकारी विरोध नहीं है।

पत्रकारिता के दौरान मुझे जंगल और लोक जीवन से जुड़े पहलुओं को समझने के मौके मिले। कभी कुछ लिखने का मौका मिला। ऐसी कुछ अपनी पुरानी रिपोर्ट्स, बचपन से स्मृति में बसे कुछ बिम्ब, कुछ छवियाँ, कुछ आँखों–देखा हाल, उधार ली हुई कुछ जरूरी जानकारियाँ दृ सबको एकसाथ शामिल कर मैं समग्र रूप से जंगलों की हालत आपके सामने रखना चाहता हूँ ताकि आप रुकें।

दुनिया ने ग्रेटा थनबर्ग के रुंधे हुए गले से उनकी बातें सुनीं, आंसू देखे, कुछ देर सोचा और फिर रोजमर्रे की ओर बढ़ लिए। मैं चाहता हूँ कि आप रुकें और देखें अपने आस पास – आपका रुकना, देखना, बोलना और गलत का विरोध करना ज़रूरी है।

किसी इलाके में उग्रवाद तभी बढ़ता है, जब व्यवस्था का भ्रष्टाचार और ऐय्याशी बढ़ती है, या फिर तब, जब किसी प्रशासनिक या प्राकृतिक कारण से लोगों का जीना कठिन हो जाए। अन्यथा आम तौर पर आम लोग शांतिप्रिय और सीधे ही होते हैं। ये सीधे सादे लोग अचानक क्यों

उग्र होते चले जा रहे हैं ? तीस वर्षों से लगातार दमन–अभियान चलाने के बाद भी सरकार उन्हें नियंत्रित क्यों नहीं कर पा रही है – इस बारे में भी मेरी कुछ मुलाकातें और निष्कर्ष हैं, जिन्हें मैंने यहाँ संक्षेप में रखने की कोशिश की है।

अक्सर पर्यावरण के मुद्दों को एक सूखे ज्ञान के रूप में परोसा जाता है। उनका जन्म भाव–भूमि में नहीं होता, इसलिए वे लोगों की भावना को छू नहीं पाते जबकि कहीं अगर कोई नदी सूखती है, तो हमारी भी कोई तंत्रिका सूख जाती है। जंगल हमारे जीवन के हर पक्ष से जुड़ा है। उसका होना हमारे होने से अलग नहीं है। नदियाँ, पेड़, पहाड़, जानवर, पक्षी, वनवासी, निजी भावनाएं, सोच, हम और आप दृसबकुछ हमारे ही अस्तित्व के विस्तार हैं।

क्या आपने कभी सोचा है कि दुर्गम जंगलों में भी घर होते हैं, जिनमें हमारे जैसे जो इन्सान रहते हैं? वे किन दिक्कतों का सामना करते हैं? – इस बारे में शायद हज़ार में कोई एक दो लोग सोचते हों।

जंगल इस धरती की सबसे कीमती संपत्तियों में से एक हैं। लेकिन उनके महत्व का एहसास आम लोगों को सामान्यतः नहीं होता। यह तब होता है जब जंगलों और पर्यावरण के विनाश के परिणाम सामने आते हैं। वनों के महत्व का अंदाज़ जिसे हो जाए, वह उनके प्रति असीम सम्मान से भर जाएगा।

कई इंसानी ज़रूरतों को जंगल पूरा करते हैं। लकड़ी, जलावन, चारागाह, फल, औषधियां, इत्यादि तो जंगल से जाहिर तौर पर मिलने वाली चीजें हैं। इनके अलावा कई अप्रत्यक्ष और ज़रूरी फायदे हैं। जंगल वातावरण की आर्द्रता बढ़ा कर जमीन की नमी बरकरार रखते हैं। आर्द्रता खेती के लिए आवश्यक है। इसका अंदाज़ एक उदहारण से होगा। रांची जिले में पिछले सौ वर्षों में जंगलों का काफी ह्रास हुआ। नतीजतन वहां धरती में आर्द्रता कम होती गई और चाय की खेती कर पाना कठिन हो गया। रबी की फसलें भी आर्द्रता में कमी से प्रभावित हुई हैं। अच्छे जंगल बाढ़ को भी नियंत्रित करते हैं। हाल में हैदराबाद में भारी बारिश से जान माल का काफी नुकसान हुआ। समाचार माध्यमों में अनगिनत रिपोर्टें आईं लेकिन किसी ने उल्लेख नहीं किया कि ऐसी विभीषिका का कारण

हैदराबाद के इलाके से पेड़ों का खत्म हो जाना भी है। बिहार में बिजली गिरने की घटनाओं में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सौ से ज्यादा लोग बिजली गिरने से मारे गए। लेकिन किसी रिपोर्ट ने जिक्र नहीं किया कि इसके पीछे जंगलों का नष्ट होते जाना एक बड़ा कारण है।

भूक्षरण को रोकने के सबसे बड़े कारक वन होते हैं। वन विहीन क्षेत्रों में अनियंत्रित जल प्रवाह भूमि की उपजाऊ सतह बहा ले जाता है। यह सतह बनने में सैकड़ों वर्ष लगते हैं। पेड़ और उनकी जड़ें वर्षा के प्रवाह को थामती हैं। जल थमता है तो वह धीरे धीरे भूमि में प्रवेश कर जाता है। फिर यही जल झरनों और नदियों में सामने आता है। इन जल स्रोतों का महत्व समझाने की ज़रूरत नहीं है। यह जल सिंचाई का सबसे सस्ता साधन था। लेकिन संताल परगना जैसे इलाकों में भी जंगलों की कमी होते जाने के कारण बेहिसाब झरने सूख गए हैं। झारखण्ड की कितनी ही नदियों में पानी खत्म हो चुका है। ऐसे उदाहरण बिहार झारखण्ड के सभी जिलों में हैं। जो इलाके जंगलों से दूर हैं, जैसे बिहार के मैदानी इलाके, उनमें भी बाढ़ का प्रकोप इसलिए बढ़ रहा है कि पर्वतीय इलाकों में वन क्षेत्र घट गए हैं। वातावरण के तापमान को कम रखने में वनों की भूमिका की चर्चा होती रहती है। जंगलों की मौजूदगी तेज़ हवाओं को नियंत्रित कर आँधियों से नुकसान कम करती है। ये सब कोई नई बातें नहीं हैं। वन विज्ञानी काम से कम सौ वर्षों से ये सब कहते रहे हैं। कहावत है कि जहाँ जंगल नहीं, वहां खुशी नहीं रह सकती।

19 वीं सदी के मध्य तक भारत में वनों के संरक्षण पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। 1855 में तत्कालीन बर्मा में सागवान के जंगलों के विनाश की ख़बरें आने लगीं। तब गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने एक वन नीति बनाई और वन विभाग के गठन पर विचार किया जाने लगा। सरकारी वनों को बचाने के लिए 1878 में भारतीय वन कानून बनाया गया। उसके तहत सरकारी जंगलों को आरक्षित और संरक्षित, दो श्रेणियों में बांटा गया। फिर 1894 में थोड़ी परिष्कृत वन नीति बनी। इस नीति में कुछ कुछ संशोधन होते रहे हैं लेकिन आम लोगों में वनों के महत्व और पर्यावरण में उनकी भूमिका की चर्चा नहीं होती। किसी चुनाव में वन संरक्षण मुद्दा नहीं बनता। यह किसी पार्टी के चुनावी घोषणापत्र का हिस्सा

नहीं है। स्कूलों के पाठ्यक्रम में वन के प्रति जागृति जगाने के पर्याप्त प्रयास नहीं किये जाते।

मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए इतने विविध विषयों को एक साथ प्रस्तुत कर पाना, और किसी एक से भी न्याय कर पाना मेरी सामर्थ्य और इस पुस्तक के स्कोप से बाहर है। इसका उद्देश्य एक विहंगावलोकन है।

स्वरूप बेतरतीब और शैली स्वच्छंद है। माफ़ी चाहता हूँ। लेकिन यह जंगल की गाथा है। जंगल इंसानी तरतीब और तहजीब से मुक्त होते हैं। प्रसंग तरल हैं, तथ्य कठोर। यादें जंगली पेड़ों, झाड़ियों की तरह कहीं भी उग आती रहीं। मैंने उन्हें भरसक यूँही रहने दिया।

इस पुस्तक को पढ़ कर आपको जंगल की याद आये, सदियों पार से अत्याचारों का शोर सुनाई दे, किसी कोयल की कूक, किसी आमापाको की हूक सुनाई दे, मन में जगे कि विकास के बुलडोज़र से नन्ही चिड़िया के घोसले को बचाए रखना है, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

धन्यवाद।

गुंजन सिन्हा

नमूना • SAMPLE

आभार

मेरे जैसा अव्यवस्थित व्यक्ति यदि इस पुस्तक को पूरा कर पाया तो इसका पूरा श्रेय मेरी पत्नी डॉक्टर अंजलि सिन्हा, पुत्रों पराग तथा अनुराग को है, जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों के बीच भी मुझे पारिवारिक जिम्मेदारियों से बिलकुल मुक्त रखा।

आभारी हूँ अग्रज अरुण रंजन और उन सभी मित्रों का जिन्होंने समय समय पर सुझाव देकर सामग्री समृद्ध की। अनुज प्रोफ़ेसर राजेंद्र सिन्हा, सुनीता और बीपी वर्मा हमेशा उत्साहवर्धन करते रहे।

सबसे ज्यादा ऋणी हूँ वनों, वनवासियों, नदियों, पेड़ों, पहाड़ों और उनमें रहनेवाले तमाम प्राणियों, प्रकृति–रूपों का जिन्होंने अक्षुण्ण जिजीविषा दी।

20 दिसंबर, 2020।

आरा।

नमूना SAMPLE

नमूना • SAMPLE



विकास या विनाश? चार दशकों से अधूरी
कुटकू मंडल परियोजना, छाया अमरेन्द्र दूबे

नमूना • SAMPLE

नमूना • SAMPLE

विषय–सूची

	समर्पण	v
	भूमिका	vii
	आभार	xv

खंड – 1

1.	कूटकू ने क्या दिया मुझे !	3
2.	जंगल से परिचय	19
3.	पहाड़ पर अंगारे	23
4.	सवाल साख का	25
5.	स्वर्णाभ शिखर और वनराज	28
6.	इसी जनम देखा वह प्यार	31
7.	चिरौंजी और चावल बराबर	34
8.	जंगल का नमक	38
9.	जंगल देवता	43
10.	दान पर भी कब्ज़ा	48
11.	भ्रष्टाचार और भूक्षरण	50
12.	हेंस की देन	52
13.	वनस्पतिशास्त्री महामहिम	55
14.	जेएन सिन्हा की याद में	57

SAMPLE

15. कुलदीप नय्यर के साथ 59
16. पीआर मिश्र : चक्रीय विकास योजना 63
17. सूखा बनाम सपना 65
18. त्रासद प्रहसन 69

खंड – 2

(वन एवं वनवासियों से जुड़ी अपनी कुछ प्रकाशित रिपोर्ट्स – नई टिप्पणियों के साथ)

19. डैम से सिंची यौन शोषण की ज़मीन 77
20. बेईमानी सरकार की, जेल गए धनेसर 82
21. हमर नाम है राजू सरकार 85
22. पंद्रह कट्ठा के बदले एक कुर्ता 89
23. पत्तों का घर बालू का बिछौना 94
24. डायन–बिसाही 99
25. सरकारी तंत्र की भूमिका 110
26. ना ले जाए पारबो 115
27. परित्यक्त रेल लाइन 117
28. विकास के प्रकाश स्तम्भ ! 120

खंड – 3

29. सारंडा वन और वनवासी 125
30. सारंडा कार्य योजना 129
31. सारंडा में सेल और माफिया 137
32. नहीं बचेगा सारंडा 140
33. बंदोबस्त करते हैं उग्रवादी 142
34. जंगल से विस्थापित, शहर में बलात्कृत 145

SAMPLE

खंड – 4

35. जंगल इतिहास के आईने में 151
36. वैदिक वांग्मय 152
37. मौर्य काल 157
38. मुग़ल काल 160
39. ब्रिटिश काल 162
40. आज़ादी के बाद 164

खंड – 5

41. वनवासी विद्रोह 169
42. ग्रामीण विकास का हाल 185
43. वनभूमि के लिए टकराव 187
44. आंतरिक उपनिवेश : सांस्कृतिक संक्रमण 193
45. संस्कृति में सेंध 198
46. विन्ध्य पर्वतमाला 201
47. कैमूर के गुफा चित्र 202
48. घायल पहाड़ 203
49. पक्षियों का हाल 205
50. हाथी परियोजना 208
51. कहाँ गए वनराज 212
52. वन्य प्राणी संरक्षण की स्थिति 215

खंड – 6

53. कैसी होगी वह दुनिया 221
54. समेकित नीति की कमी 223
55. कोयल कूकती है आज भी। 224
Work Cited 229

SAMPLE

नमूना • SAMPLE

खंड – 1

नमूना • SAMPLE

नमूना • SAMPLE

कूटकू ने क्या दिया मुझे !

घर में हँसते खेलते मिट्ठू अचानक बेहोश होकर गिर पड़ा था।

मिट्ठू मेरा सबसे छोटा भाई, मंदबुद्धि, सोलह वर्ष की उम्र में भी बोल नहीं सकता था। देखने में हृष्ट पुष्ट, हम चारो भाई बहन में सबसे सुंदर लेकिन बुद्धि एक साल के बच्चे जितनी।

पिछले पन्द्रह दिनों में उसे बेहोशी का यह तीसरा दौरा था। कारण कुछ साफ़ नहीं। क्लीनिक से लौटते हुए माँ, पिताजी, हम भाई बहन सभी चुप थे। सभी के मन में डॉक्टर का वह निर्मम, पेशेवर वाक्य गूँज रहा था,

– ऐसे रिटारडेड बच्चों का जीवन बीस बरस से ज्यादा नहीं होता।

इस खौफनाक भविष्यवाणी की काली छाया सबके चेहरों पर साफ़ दिख रही थी।

छोटे भाई के सिर का एक्सरे, वह खोपड़ी, देख मैं एकदम सहम गया था। यह खोपड़ी और ऐसी ही खोपड़ियाँ उन तमाम हँसते बोलते सुंदर लोगों के अन्दर हैं? नशीली आँखों के पीछे ऐसे ही गड्ढे है? और यही हूँ मैं?

उसके बाद घर के माहौल को जैसे एक ग्रहण लग गया। सभी ऊपर से सामान्य दिखने की कोशिश करते और अन्दर डॉक्टर के उस वाक्य से जूझते रहते। पिताजी मिट्ठू को लेकर बहुत भावुक थे।

बात १९७७ / ७८ की है। तब मैं रांची कॉलेज से बी ए पास कर एम ए में प्रवेश का इंतज़ार कर रहा था। मेरा कोई दोस्त नहीं था। कोई

शौक नहीं थे. मन की अशांति का उपाय खोजने के लिए मैं सिर्फ दर्शन और धार्मिक किताबें पढता. लेकिन जीवन और मृत्यु, जीवन और संसार की निरर्थकता, अस्तित्व की अर्थहीनता – या यूँ कहें कि एक घने निलीज्म ने मुझे घेर लिया था। जिसका कोई निदान मुझे न उन पुस्तकों में मिलता था, न किसी पूजा पाठ में। किसी बात में कोई रस नहीं। न कोई आकांक्षा, न कोई दिलचस्पी। जब वह निराकार बेचैनी बहुत बढ़ जाए, खास कर शाम को, तो खुद से भागने के लिए निरुद्देश्य भटकना इधर उधर।

ऐसी ही एक शाम, धुंध भरी,

बस्ती से दूर भटकते हुए मैंने पीछे देखा – डोरंडा मोहल्ले की बत्तियां दिख रही थीं। अपने बिखरे बेशक्ल खयालों में खोया, डॉक्टर की डरावनी भविष्यवाणी की याद से बचता बचाता मैं ना जाने कितनी दूर निकल आया था। पैरों के नीचे कोई सड़क, कोई पगडण्डी नही थी। अँधेरा घिरने लगा था। सामने एक गन्दा नाला था जो कभी पहाड़ी डोरंडा नदी हुआ करती थी। नाले के किनारे और बीच में बेतरतीब बिखरे छोटे बड़े पत्थरों और गन्दगी के बीच कुछ बुझी चिताओं की राख, अधजले कोयले के टुकड़े पसरे थे। उन्हें देख कर सहसा एहसास हुआ कि यह कोई छोटा मोटा श्मशान है। इस एहसास ने थोड़ा चौंकाया ज़रूर। श्मशान के खिलाफ इंसान का सदियों पुराना भाव, लेकिन इस एहसास ने डराया नहीं। क्या फर्क पड़ता है? श्मशान हो या शहर?

एक अधजली लकड़ी को पैरों से परे ठेल मैंने रुक कर चारो ओर देखा। कहीं वीराने से किसी गीदड़ की आवाज़ आ रही थी। मुझे लगा मैं भी कोई गीदड़ हूँ – जिंदगी से, शहर से निर्वासित। या शायद ज़िन्दगी कोई शिकारी है, और शहर शिकारियों की बस्ती, जिससे बच कर मैं इस वीराने में भाग आया हूँ। यहाँ मैं सुरक्षित हूँ। श्मशान में सुरक्षित। जिंदगी यहाँ आने से डरती है।



मिटठू

दूर शहर की उन पीली बत्तियों के बीच घर में पिताजी ऑफिस से लौट आये होंगे। मिट्ठू उनके गले में हाथ डाल लटक गया होगा और अपनी ख़ास शब्दहीन आवाजों में दिन भर की शिकायतें उन्हें सुना रहा होगा। पिताजी घर में हों तो मजाल नहीं मिट्ठू को कोई एक शब्द बोल दे। अगर नहीं लौटे होंगे तो वह खिड़की में आँखे गड़ाए, अँधेरे में उनका इंतजार कर रहा होगा। कुहंक रहा होगा और एकदम चौकस आँखें फाड़ कर उन्हें खोज रहा होगा। उनके आने की आहट मिलते ही मिट्ठू खुशी से किलकारी मारता है। सभी लोग जान जाते हैं कि पिताजी पहुँच रहे हैं। लोग अब कभी कभी ही सोचते हैं कि किलकारी भरने की उम्र उसकी

रही नहीं। उसके हम–उमर बच्चे इंजीनियरिंग, मेडिकल में पढ़ रहे हैं। लेकिन मिट्ठू अभी मिट्ठू ही है। नाम तो रखा गया था, रामेन्द्र नाथ सिन्हा, लेकिन जब वह दो तीन साल तक कुछ नहीं बोला तो नानी माँ उसे वैसे ही बोलना सिखाने लगीं जैसे वे पिंजरे में बंद अपने सुग्गे को सिखाती थीं।

"बोल मिट्ठू, बोल, अम्मा, बोल मिट्ठू, बोल बाबा."

सुग्गा सीख गया। मिट्ठू ने बोलना नहीं सीखा, लेकिन सब उसे मिट्ठू ही कहने लगे। वर्षों अम्मा इस उम्मीद में रहीं कि मिट्ठू कभी नानी माँ के सुग्गे की तरह ही टर टर बोलने लगेगा। कितने पूजा पाठ, गंडे–ताबीज, ज्योतिषी, पीर के यहाँ अम्मा दौड़ीं, लेकिन मिट्ठू को न बोलना था, न बोला। उम्मीद कब नाउम्मीदी में पथराई किसी को पता भी नहीं चला। पिताजी तो अब किसी भी पूजा पाठ का नाम सुनते ही चिढ़ जाते थे। मिट्ठू सोलह सत्रह साल का हो चुका था, लेकिन वही बच्चा का बच्चा। उसकी आंखों मे देखिये तो कभी दो ढाई साल का शरारती बच्चा दिखेगा, कभी एकदम उदास, अर्थहीन अस्तित्व। डॉक्टर ने भले अब कहा हो कि वह ज्यादा नहीं जियेगा, लेकिन पिताजी को ये डर शुरू से ही था। इसलिए मिट्ठू जैसा था, उन्होंने उसे वैसा ही स्वीकार कर लिया था। कभी कभी उन्होंने ये कोशिश ज़रूर की थी कि उसे किसी विशेष स्कूल में भरती करा दें ताकि वह कुछ सीख सके लेकिन बिहार झारखण्ड में ऐसा कोई स्कूल नहीं था। एकाध अनाथालय किस्म के थे, जिनमे बच्चों की हालत देख माँ पिताजी सिहर गए थे। फिर उन्होंने खोज बंद कर दी थी। साल यूँही बीतते गए माँ की ठोकरें खाती उम्मीदों में और पिताजी की स्टोइक नाउम्मीदी में। ज़िन्दगी चल ही रही थी, अर्ध चेतना में, जिसे अब अचानक बेहोशी के दौरों और डॉक्टर की भविष्यवाणी ने एकबारगी झकझोर दिया था। सारी जांच पड़ताल, दौड़–धूप का स्थाई निष्कर्ष बस यही निकला कि कभी भी दौरे पड़ सकते हैं और कभी भी .... नहीं इसके आगे मैं नहीं सोच सकता था। लेकिन विचारों को आप रोक सकते हैं, भावनाओं को कैसे रोकेंगे? लहरें एक पर एक गड्ड मड्ड होने लगती हैं।

श्मशान में भटकता हुआ मैं आसमान की तरफ देखता हूँ, शायद किसी तारे की रोशनी मेरा ध्यान बंटा दे। लेकिन फिर अचानक लगता है, कल को मिट्ठू भी उन्हीं तारों के बीच ....तुरत डर कर मैं ऑखें नीचे कर

लेता हूँ। एक मौन आर्तनाद मन के अन्दर घुटता है। पाँव के पास पड़ी अधजली लुआठी को मैं जोर से ठोकर मारता हूँ, कि पैरों में चोट लगने से शायद भावनाओं का तूफ़ान थम जाए। लेकिन लड़ने किससे चला हूँ मैं? इस तूफ़ान में तो मैं तिनका भी नहीं हूँ। आतंकित होकर आदतन माँ से सुनी हुई वही पुरानी पंक्ति दुहराने लगता हूँ – "दीनदयाल बिरद सम्भारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।" और कुछ भले न हो, ध्यान तो थोड़ा बंट ही जाता है।

अँधेरे में वापस लौटते समय शहर की बत्तियां बहुत दूर दीख रही हैं। अँधेरे में न रास्ते का पता है और न पत्थरों का। ठोकरें बताती हैं किधर कहाँ मुड़ना, किधर झुकना। पता नहीं कोई पगडण्डी भी है या बस यूँही बियाबान। पीछे श्मशान में क्या सचमुच भूत रहते हैं? वो भी तो देखते होंगे दूर शहर की ये बत्तियां। क्या सोचते होंगे वे इन्हें देख कर? उन्हें लगता नहीं होगा कि वे अब जिन्दगी और रोशनी से वंचित हैं? आउटकास्ट पैरिया हैं? उदास नही हो जाते होंगे वे इस वंचित अस्तित्व से? कैसा लगता होगा उन्हें – मैंने महसूस करने की कोशिश की. कल्पना करूं कि मैं भी एक भूत हूँ और अब से चालीस पचास साल बाद या सौ दो सौ साल बाद ऐसे ही किसी श्मशान के अँधेरे से सुदूर शहर की रोशनियाँ देख रहा हूँ। कैसा लगेगा मुझे – आउटकास्ट फॉर एवर होकर? तबतक ये रोशनी ये शहर का स्वरूप बिलकुल बदल चुका रहेगा। आगे भी बदलता जायेगा लेकिन क्या फर्क पड़ता है? जिंदगी और मौत का फासला तो वही रहेगा. एक बार भूत बनने के बाद मैं हमेशा भूत ही रहूँगा – वंचित, क्षुब्ध, अपने होने से नाराज़। मुझे सिहरन हो आई अपनी इस कल्पना से। क्यों करता हूँ मैं ऐसी फालतू ऊट–पटांग कल्पनाएँ? मूर्ख हूँ या पागल, और क्या। ऐसे ही एक बार मैंने कल्पना करने की कोशिश की थी कि यदि मैं मिट्ठू जैसा हो जाऊं तो कैसा महसूस करूंगा। उस समय कुछ ख़ास महसूस नहीं कर सका। लेकिन दो तीन दिनों बाद सपने में लगा कि मैं बोल नही पा रहा हूँ। मेरी गुलाबी बैचमेट मेरे घर के सामने खड़ी है, किसी से कह रही है – "देखो, गुंजन को क्या हो गया है।"

मैं उसे पुकारने की कोशिश करता हूँ, चीखना चाहता हूँ, लेकिन हलक से कोई आवाज़ ही नहीं निकलती। नींद खुल गई थी, डर से गूं

गूं करते हुए, पसीने से लथपथ और दिल जोरों से धड़कता हुआ।

नहीं। ये सब बिलकुल नहीं सोचना चाहिए। जिंदगी और मिट्ठू के बारे में स्वामी जी ने समझाया था – "व्हाट कैनॉट बी क्योर्ड, मस्ट बी एनद्योर्ड।"

मैं घर में घुसा तो दूर से ही कुछ गहमा गहमी दिखी थी। चार पाँच लोग बाहर बरामदे में हँसते गपियाते खड़े थे। अन्दर जाते ही बहन मुस्कुराते हुए बोली,

"पिताजी का प्रोमोशन हो गया है। कल ही डाल्टनगंज ज्वाइन करने जा रहे हैं।"

सुन कर मुझे भी खुशी हुई। लेकिन मन कहीं भीतर डूबा ही रहा।

अगली सुबह पिताजी डाल्टनगंज जाने लगे तो मुझे भी खींच ले गए। बोले,

''आप आजकल बहुत उदास और सबसे भागे भागे रहते हैं। मेरे साथ डाल्टनगंज घूम आइये तो मन बदलेगा।''

मन तो खैर क्या बदलेगा, लेकिन जाने से भी क्या फर्क पड़ता है?

मैं साथ चला गया। वहां अकेलापन और गहरा गया। नई जगह। बड़ा सा घर, रहनेवाले सिर्फ हम दो और एक चुप्पा खानसामा।

पिताजी ऑफिस चले जाएं तो मैं कभी घर के अन्दर कभी बाहर जिन्दगी का अंतिम अर्थ खोजता सोचता रहता। रात में कभी कभी पिताजी का पैर दबाते हुए सोचता कि ये तो मिट्टी है। मिट्टी हो जाएँगे। तब पिताजी जो मुझे इतना प्यार करते हैं, कहाँ होंगे? ओह... मैं कैसे रोकूँ अपने इस निर्मम दिमाग को? विचार नहीं थमते, पैर दबाते हाथ थम जाते। पिताजी मेरी ओर देखते, पूछते,

"क्या बात है? किस सोच में आप डूबे रहते हैं?"

– "कुछ नहीं।"

– "कुछ तो है। जो भी बात हो मुझे बताइये। आप कुछ छिपा रहे हैं।"

उनके बार बार पूछने पर भी मैं कुछ बता नहीं पाता था। क्या बताता? कैसे बोलता कि आपके पाँव मिट्टी बन कर मुझे डराते हैं? क्या बताता? यही कि आप का शरीर मुझे मिट्टी नज़र आता है? मिट्ठू की मृत्यु के

दुहस्वप्न देख कर मैं रातों को सो नहीं पाता हूँ? सपनों में श्मशान, गिद्ध और हड्डियाँ देखता हूँ? जीवन को निरर्थक अस्तित्वहीन देखता हूँ? क्या बताता उन्हें? कैसे कहता कि आप और आपका ये संसार, ये बंगला, पोस्ट और परिवार, हमारा सारा वजूद मिथ्या है, बस मिटटी है। कहीं कुछ भी नहीं जो स्थाई हो, जिसे थाम कर मैं निलीज्म के इस अथाह समुद्र से बाहर निकल सकूं. इस सब मिथ्या के मुकाबले महान मनीषियों ने जिस चिरंतन ईश्वर की कल्पना की है, उसका भी कोई माने–मतलब है नहीं। और अगर हो भी तो हमे क्या फर्क पड़ता है? उस ईश्वर के लिए हम तो वही हैं, ऐज फ्लाइज टू वैनटन बॉयज ...

एक शाम पिताजी ऑफिस से लौटे, मेरा चेहरा पढ़ा और बोले,

"चलिए, आपको घुमा लायें।"

मैं चुपचाप उनके साथ गाड़ी में बैठ गया। कोई उत्सुकता नहीं कि कहाँ जा रहे हैं।

जीप जल्द ही शहर से बाहर निकल गई। गाड़ी चलाते हुए वे रास्ते और उनमें दिखने वाले खास पेड़ पौधों के बारे में बताते जा रहे थे –वैज्ञानिक नाम, प्रजाति, उपयोग और न जाने क्या क्या। उधर मैं गाल पर हाथ रखे एकदम निर्लिप्त बैठा था। क्या फर्क पड़ता है – कुछ भी नाम हो। कोई उपयोग हो।

जल्द ही हम बरवाडीह पहुँच गए। वहां उन्होंने रेंज ऑफिसर मुजीब खान साहब को साथ ले लिया और आगे चल पड़े। दोनों फारेस्ट अफसरों के बीच बैठा मैं उनकी बातचीत एकदम उदासीन भाव से सुन रहा था, बल्कि सुन भी नहीं रहा था। लेकिन कुछ हिस्से मेरे कानों में पड़ जा रहे थे। जैसे,

"जिस जंगल से हम गुजर रहे हैं, ये टाइगर प्रोजेक्ट का डूब एरिया है। जिस कुटकू रेस्ट हाउस में आज रात ठहरेंगे, अगले साल उसके सौ फुट ऊपर तक पानी रहेगा, क्योंकि डैम पूरा होने के बाद वहां जलस्तर 1100 फुट हो जायेगा जबकि रेस्ट हाउस 1000 फुट पर ही है।''

मुझे क्या लेना देना था ?

रात हो चुकी थी। घुमावदार रास्ते के दोनों ओर जीप की हेडलाइट्स के दायरे में दिख रहे थे, घने जंगल के लंबे चौड़े पेड़। वे पेड़ गाड़ी बढ़ने के साथ तुरंत फिर उसी अँधेरे में गुम हो जाते। सामने सीमित रौशनी और बाकी हर ओर से खदेड़ता हुआ घुप्प अँधेरा। लग रहा था अँधेरा गाड़ी से दौड़ लगा रहा हो। कभी कभी कोई हिरन, साम्भर या कोई अन्य जानवर सड़क के अगल बगल दिख जाता। कभी किसी झाडी में छिपी आँखें जीप की रौशनी में चमकतीं, और फिर तुरंत चारो ओर फैले अँधेरे का हिस्सा बन जातीं। पिताजी पहले भी बता चुके थे, अँधेरे में जो आँखें हरी चमकती हैं, वे घासफूस खानेवाले जानवरों की होती हैं और जो लाल चमकती हैं, वे मांसाहारी जानवरों की होती हैं। अधिकतर तो हरी ही थीं। लेकिन कभी कभार कोई लाल ऑखें भी दिखीं।

जंगल की अनगिनत आवाजें जीप के इंजिन की आवाज में दब जाती होंगी वर्ना जंगल कभी चुप कहाँ होता है! अनगिनत आवाजें आती रहती हैं। बस कान लगा के सुनिए तो.....वो बुलाते हैं। मैंने जंगल की यह पुकार अपने खून में कई बार महसूस की है। आदिम पुकार जिससे डर भी लगता है और जिसका आकर्षण आपको कहीं चैन से जीने भी नही देता। यह वही पुकार है जंगल की जो आवारगी जगाती है। आला दर्जे की आवारगी जिसमें आप अपनी रूह से मिलने निकल पड़ते हैं, कभी सुरक्षित पिकनिक में, तो कभी दुर्गम एकाकी जंगलों में।

जिन आवाजों को कभी भूल नही पाऊँगा, उनमें एक सुनी थी जब मैं शायद आठवीं में था। पटना से हम सपरिवार ट्रेन से गया पहुंचे थे। रात में ही जीप से चतरा के लिए चल दिए थे। रास्ते में एक घने जंगल के बीच गाड़ी खराब हो गई। सुबह का इंतज़ार करने के अलावा कोई उपाय नहीं था।

शायद अक्टूबर या नवम्बर का महीना था। हल्की ठण्ड लेकिन गर्म कपड़ों में बर्दाश्त करने लायक। अम्मा की हिदायत थी कि हम सब एकदम चुप रहें। डर के मारे हमारे पास कोई विकल्प भी नहीं था। धीरे धीरे रात गहराने लगी और उसके साथ जंगल की आवाजों का स्वभाव बदलता गया। कभी कई जानवरों, और चिड़ियों की आवाजें एक साथ आतीं, कभी सिर्फ झींगुर की एकरस ध्वनि, फिर उस एकरसता को तोड़ते किसी सियार